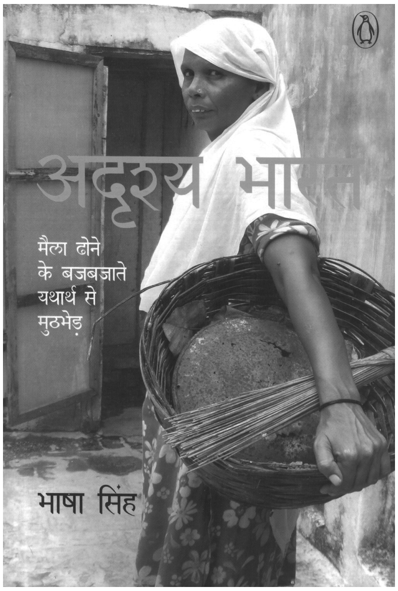

सिर पर ढोयी जा रही राष्ट्रीय और सामाजिक शर्म

अरविंद कुमार

अदृश्य भारत : मैला ढोने के बजबजाते यथार्थ से मुठभेड़
भाषा सिंह
पेंगुइन, नयी दिल्ली,
पृष्ठ 212, मूल्य 195 रुपए

दिल्ली सफ़ाई कर्मचारी आयोग ने 26 फ़रवरी, 2013 को 'स्वाभिमान दिवस' मनाया और इसके साथ ही दिल्ली मैला ढोने वाली प्रथा को क़ानूनी तौर पर प्रतिबंधित करने वाला देश का पहला राज्य बन गया।[1] ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान के ज़्यादातर इलाक़ों में मनुष्य द्वारा मैला ढोने का कमोबेश काम आज भी जारी है और यह प्रथा अचानक किसी सुबह छूमंतर हो भी नहीं सकती। आख़िरकार इसकी जड़ें भारतीय समाज आधारभूत जाति प्रथा के साथ मजबूती से जुड़ी हुई हैं। ग़ौरतलब है कि 'मैला ढोने वालों की बहाली–निषेध और उनका पुनर्वासन विधेयक 2012' लम्बे समय तक संसद में लम्बित रहा और आख़िरकार छह दिसम्बर, 2013 को इस विधेयक का संशोधन को बड़े अनमने ढंग से पास किया गया। 21 नवम्बर, 2012 के *द हिंदू* में छपे लेख 'शिट, कास्ट ऐंड दि होली डिप' में बेज्वाड़ा विल्सन और भाषा सिंह ने ठीक ही लिखा था : 'आज हर कोई तहे दिल से एवं धीमी आवाज़ में कह रहा है कि 'मैला ढोने की प्रथा' एक राष्ट्रीय शर्म की बात है। मनमोहन सिंह और प्रतिभा पाटिल से लेकर मुकेश अम्बानी और आमिर ख़ान (अभी सबसे हाल में बने दलित हितों के रक्षक) तक इस शौक़ के समंदर में पुण्य की डुबकी लगाने वालों की

---

[1] *हिंदुस्तान* (2013), नयी दिल्ली, 27 फ़रवरी.

24_arvind_kumar_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 342

क़तार में लोगों की कोई कमी नहीं है। इसके बावजूद शर्म का इतना बोझ मैला उठाने वाले समुदाय की टोकरी का बोझ कम करने में नाकामयाब है।'[2] ऐसा भी नहीं है कि इस जघन्य परम्परा के उन्मूलन के लिए अब तक कोई पहल नहीं हुई या फिर क़ानून नहीं बने। 1993 में बने केंद्रीय क़ानून को बीस वर्ष पूरे हो गये और फिर से संसद में उस क़ानून के संशोधन पास करवाने के लिए लम्बे समय से पहल की जाती रही। ऐसे में आज एक बार फिर यह सोचने की ज़रूरत है कि आख़िर क्यों पिछले 20-21 सालों में सज़ा मिलना तो दूर एक भी व्यक्ति के ख़िलाफ़ मुक़दमा तक नहीं चला। ज़ाहिर है कि क़ानून में ख़ामियाँ रही होंगी, लेकिन मैला ढोने वालों के पुनर्वास के लिए कोई क़दम क्यों नहीं उठाये गये। दरअसल, यह जानने के लिए कार्यपालिका और न्यायपालिका की मंशा भी समझने की ज़रूरत है। यहाँ यह बताने की भी ज़रूरत है कि 1993 से लेकर 2005 तक पूरे देश में मैला ढोने वालों की मुक्ति और उनके पुनर्निवास के लिए सात अरब 47 करोड़ रुपये ख़र्च किये जा चुके हैं। लेकिन नतीजा वही ढाक के तीन पात रहा है (पृ. 27-28)। भाषा सिंह की रचना *अदृश्य भारत* आधुनिक भारत में मैला ढोने वालों (ज़्यादातर महिलाओं) की एक सच्ची और अनोखी दास्तान है जो शायद किसी और भाषा में इस तरह प्रकाशित नहीं हुई है।

विल्सन बेज्वाड़ा (जो सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन के संस्थापक एवं संयोजक हैं) ने इस पुस्तक के आमुख में लिखा है : *अदृश्य भारत* बाक़ी किताबों से इस मामले में अलग है क्योंकि यह हम लोगों के बारे में (मैला ढोने वाले समुदाय के बारे में) बात करती है, जिन्हें इस अमानवीय प्रथा को ढोने के लिए सदियों से मजबूर किया गया है; हमारी ज़िंदगियों के बारे में बात करती है। इस किताब में दोनों पहलू हैं— पहला, किस तरह से इस जातिवादी प्रथा ने हम लोगों की ज़िंदगियों पर असर डाला और हमारी सोच को प्रभावित किया और दूसरा, इससे बाहर निकलने और उसे बदलने की छटपटाहट जो हमारे भीतर है। किताब इस बात को भी उकेरने की कोशिश करती है कि किस तरह हमारे समुदाय की महिलाएँ इस नरक से बाहर निकलने की कोशिश कर रही हैं, ख़ुद आगे आकर शुष्क शौचालय तोड़ रही हैं, मल भरी टोकरियाँ जला रही हैं और किस तरह से पुरुष सहभागी भी उनकी मदद में खड़े हैं (पृ. xi)।'

यह पुस्तक दो भागों में बँटी है। पहले भाग में ग्यारह राज्यों में किये गये शोध-अनुभव की कहानियाँ हैं और दूसरे भाग में परिशिष्ट के रूप में महत्त्वपूर्ण जनगणना तालिका, मैला ढोने वालों को काम पर रखने और शुष्क शौचालयों का निर्माण (निषेध) अधिनियम, 1933 तथा देश भर में मैला ढोने वालों के बीच सक्रिय संगठनों की तालिका शामिल है। अब तक भाषा सिंह की इस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद *अनसीन : द ट्रुथ अबाउट इण्डियाज़ मैनुअल स्कैवेंजर्स* भी प्रकाशित हो चुकी है जिसमें लेखिका ने संसद में अभी-अभी पास हुए विधेयक (संशोधित) और उसमें निहित दिक़्क़तों के बारे में भी विस्तार से लिखा है।[3] इसके साथ-साथ भारतीय रेल पर एक विस्तृत अध्याय भी जोड़ा गया है जिसमें देश भर में रेलवे प्लेटफ़ॉर्म और उसके आस-पास फैले मल की सफ़ाई के बारे में जीवंत दास्तान दर्ज है।

तोड़ने ही होंगे ये गढ़ और मठ

मानव द्वारा मानव का मैला उठाने की प्रथा इस देश में काफ़ी पुरानी है, लेकिन इसके संदर्भ में यथार्थ से सहज मुखामुखम कर पाना मुश्किल रहा है। लेखिका ख़ुद बताती है कैसे अख़बारों और पत्रिकाओं में काम करते हुए मैला ढोने वालों पर लेख लिखना दूसरी अन्य स्टोरी की तरह एक ही थी। लेकिन

---

[2] बेज्वाड़ा विल्सन और भाषा सिंह (2012), 'शिट, कास्ट ऐंड द होली डिप', *द हिंदू*, 21 नवम्बर.
[3] अंजना राजन (2014), 'नॉट सो ब्लाइंड', *द हिंदू*, 13 मार्च.

24_arvind_kumar_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 343

सच से साक्षात्कार होने पर ही पता चला कि कैसे रोज़ एक बासी रोटी और 5–10 रुपये महीने की मजूरी पर महिलाएँ दूसरों का शौच सर पर ढो रही हैं। इस बजबजाते नरक से लेखिका को रूबरू कराया अखिल भारतीय प्रगतिशील महिला एसोसिएशन ऐपवा की राष्ट्रीय अध्यक्ष और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) की नेता श्रीलता स्वामीनाथन ने (पृ. xx)। गंदगी का यह नरक कितना अमानवीय था इसका अंदाज़ भी लेखिका को धीरे-धीरे ही पाया। बंगाल के चौबीस परगना ज़िले के भाटपाड़ा में मैला साफ़ करते हुए मुन्सरी वासको ने हाथ-डब्बू बाल्टी में डालते हुए लेखिका से व्यंग्य में कहा था : 'कैमरा सँभालो, छींटा न पड़े! नीचे बैठ कर फ़ोटो मत लो और न ज़्यादा पास आओ, वरना कढ़ी और दाल छूट जाएगी। खा नहीं पाओगी' (पृ. 53)। यह काम कितना घिनौना है इसकी अनगिनत तस्वीरें लेखिका ने अपनी शोध के दौरान काफ़ी क़रीब से देखीं। अम्बाला, हरियाणा की कमलेश बताती है: 'बारिश के मौसम में यह काम और ख़ौफ़नाक हो जाता था। इतना कि उस समय हमारा खाना आधा हो जाता। बारिश में सर पर टट्टी-भर टोकरी रख कर निकलते समय टोकरी चूने लगती, इतनी बदबू आती कि लगता ख़ुद को ही चाकू से खुरच कर साफ़ करें। शायद इसके बाद भी बदबू से छुटकारा न मिले।' यह बोलते-बोलते कमलेश अपने बाल खोल देती हैं और कहतीं है, 'हमें तो लगे है कि मानो आज भी इनमें बदबू बैठी हो।' लेखिका ठीक ही समझती है, शायद यही वजह है कि हम काम में लगी सारी औरतें सर में खूब इत्र वाला तेल डालती हैं और खुशबूदार पान खाती हैं (पृ. 70)।

'बारिश के मौसम में यह काम और ख़ौफ़नाक हो जाता था। इतना कि उस समय हमारा खाना आधा हो जाता। बारिश में सर पर टट्टी-भर टोकरी रख कर निकलते समय टोकरी चूने लगती, इतनी बदबू आती कि लगता ख़ुद को ही चाकू से खुरच कर साफ़ करें। शायद इसके बाद भी बदबू से छुटकारा न मिले।' ... शायद यही वजह है कि हम काम में लगी सारी औरतें सर में खूब इत्र वाला तेल डालती हैं और ख़ुशबूदार पान खाती हैं।

इन समस्त गर्हित अमानवीयताओं के बावजूद हमारे सार्वजनिक जीवन में ऐसे अमानवीय काम को भी वैचारिक व्याख्याओं से जायज़ ठहराया जाता रहा है। यह काम बीसवीं सदी में तीस के दशक से आज इक्कीसवीं सदी तक जारी है। 1936 के अपने एक लेख में गाँधी ने लिखा था : 'एक भंगी समाज के लिए वही करता है जो एक माँ अपने बच्चे के लिए करती है। एक माँ अपने बच्चे का मल-मूत्र साफ़ करके उसके स्वास्थ्य की रक्षा करती है। इसी तरह से भंगी साफ़-सफ़ाई करके पूरे समुदाय के स्वास्थ्य की रक्षा करता है' (पृ. 134)। यह दोहराने की ज़रूरत नहीं कि गाँधी के वर्णाश्रम संबंधी विचारों पर कई बहसें हुई हैं और आज भी जारी है। गुजरात के मुख्यमंत्री और भारतीय जनता पार्टी की तरफ़ से प्रधानमंत्री पद के लिए नामज़द नरेंद्र मोदी केवल 2002 के अल्पसंख्यक नरसंहार के लिए ही नहीं जाने जाते, मैला ढोने की प्रथा के संबंध में उनके विचार कम उल्लेखनीय नहीं हैं। नरेंद्र मोदी ने 2007 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *कर्मयोग* में लिखा है : 'मुझे नहीं लगता कि वे (वाल्मीकि) इस काम को महज़ अपनी आजीविका चलाने के लिए कर रहे हैं। ऐसा होता तो वे एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी तक इसी काम को नहीं करते रहते। किसी न किसी समय में किसी न किसी को दिव्य ज्ञान (इनलाइटेनमेंट) हुआ होगा कि समूचे समाज और भगवान की ख़ुशी के लिए उन्हें यह काम करना है। यही कारण है कि सदियों से यह सफ़ाई का काम उनकी आंतरिक आध्यात्मिक गतिविधि के रूप में चलता रहा। इसी तरह यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक

24_arvind_kumar_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 344

जो सिद्धांत मनुष्य के ऊपर मनुष्य के जुल्म के ख़ात्मे की बात करता हो, उसे दोहराने वाली भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के 29 साल लम्बे शासनकाल (2006 तक) में बंगाल में इस नंगे सच को देखना भी लेखिका के लिए कम कष्टकारी नहीं था। जिस समय लेखिका बंगाल में शोध कर रही थीं, चौबीस परगना जिले के अकेले भाटपाड़ा नगरपालिका में 122 औरतें मैला उठाने का काम कर रही थीं। वहाँ कुल शौचालयों की संख्या 487 थी।

चलता रहा। यह विश्वास करना असम्भव है कि उनके पूर्वजों के पास कोई और काम करने का विकल्प कभी नहीं रहा होगा' (पृ. 99)।

दक्षिणपंथी विचारधारा और उसके द्वारा समाज को भरमाने वाले मनगढ़ंत वर्णाश्रम और कर्म-सिद्धांत की बात तो समझ में आती है, लेकिन मैला ढोने का यह घिनौना नज़ारा भाषा सिंह ने बंगाल में भी देखा है। लेखिका को अचरज हुआ कि आज़ाद भारत के इन नागरिकों को यह अमानवीय काम कम्युनिस्ट शासन में भी करना पड़ रहा है। जो सिद्धांत मनुष्य के ऊपर मनुष्य के जुल्म के ख़ात्मे की बात करता हो, उसे दोहराने वाली भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) माकपा के 29 साल लम्बे शासनकाल (2006 तक) में बंगाल में इस नंगे सच को देखना भी लेखिका के लिए कम कष्टकारी नहीं था। जिस समय लेखिका बंगाल में शोध कर रही थीं, चौबीस परगना ज़िले के अकेले भाटपाड़ा नगरपालिका में 122 औरतें मैला उठाने का काम कर रही थीं। वहाँ कुल शौचालयों की संख्या 487 थी। देश के बाक़ी राज्यों के तुलना में पश्चिम बंगाल में मैला ढोने वालों की आर्थिक स्थिति बेहतर ज़रूर थी लेकिन इससे वहाँ की सत्ताधारी पार्टी माकपा की ज़िम्मेदारी ख़त्म बिल्कुल नहीं होती। बल्कि यूँ कहें कि हिंदुस्तान में वामपंथी पार्टियों पर जाति के प्रश्न को नज़रअंदाज़ करने का जो आरोप रहा है, उसके संदर्भ में पश्चिम बंगाल में माकपा से यह ऐतिहासिक सवाल करना लाज़मी है।

पर ऐसा भी नहीं है कि ऐसी संकीर्ण मानसिकता और दक्षिणपंथी व्याख्याओं के गढ़ और मठ ढहाए नहीं जा रहे हैं। मैला ढोने वाली महिलाओं के संगठन और उनके संघर्ष का नतीजा है कि आज आंध्र प्रदेश मैला ढोने की कुप्रथा से लगभग मुक्त राज्य बन गया है। वहाँ के संगठन की लोकप्रिय नेता नारायण अम्मा से जब लेखिका ने पूछा कि क्या आप लोगों के संघर्ष से जाति टूट जाएगी तो जवाब में वे कहती हैं : 'जाति का राज चल रहा है और चलेगा। जाति तोड़ने की बात नेता ही करते हैं जो चुनावों में सबसे ज़्यादा वोट जाति पर ही माँगते हैं। जाति से नेता और अमीर लोगों को फ़ायदा होता है। पढ़े लिखे लोग हमें भरमाने को कहते हैं की जाति भगवान ने दी है। अब मैं जानती हूँ कि न तो जाति को भगवान ने बनाया और न ही इस नरक में उसके कहने से धकेला गया है' (पृ. 138)।

दलित-दलित एक समान : हिंदू, ईसाई, मुसलमान

भाषा सिंह ने अपने अनुभवजन्य शोध से एक ज्वलंत समसायिक विषय 'दलित-मुसलिम' और 'दलित-ईसाई' की राजनीतिक और संवैधानिक पहचान के मुद्दे को भी मजबूत किया है। वे बताती हैं कि कैसे कश्मीर जा कर ही उन्हें यह पता चला कि वहाँ बड़े पैमाने पर शुष्क शौचालय हैं। शायद पूरे देश में सबसे ज़्यादा, क्योंकि वहाँ सीवर बिछे ही नहीं हैं। शहरों में भी सेप्टिक टैंक हैं जिनकी बड़े पैमाने पर सफ़ाई हाथ से ही होती है। उन्हें साफ़ करने वाले— इनसानी मल को हाथों से साफ़ करने

24_arvind_kumar_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 345

वाले शेष भारत की तरह ही मुख्य शहर या क़स्बे से दूर मोहल्लों में रहते हैं, जिनकी शिनाख़्त शहर के सबसे गंदे बजबजाते हिस्से के रूप में होती है। इन्हें वातल, शेख़ या मोची मोहल्ला कहा जाता है। ये मोहल्ले वैसे ही गंदगी-ग़रीबी से अटे हुए हैं, जैसे शेष भारत की दलित बस्तियाँ (पृ. 7)। उपनिवेशीकरण के वक़्त से ही कानपुर उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा औद्योगिक शहर रहा है। कभी इसे एशिया का मैनचेस्टर कहा जाता था। इसी शहर में एक मुस्लिम बहुल बस्ती सुजातगंज है। लेखिका बताती हैं कि कानपुर में शुष्क शौचालय सबसे ज़्यादा मुस्लिम बहुल इलाक़ों में हैं, क्योंकि वे ही सबसे ज़्यादा पिछड़े हुए हैं। यहाँ विकास न तो सड़कों के ज़रिये गया है न सीवर के ज़रिये। वह बस टीवी और पेप्सी कोला की बोतलों में जगमग है (पृ. 77)।

देवास, मध्य प्रदेश में शोध के दौरान लेखिका को लगा कि देश में मैले की टोकरी सिर्फ़ हिंदू दलित महिलाओं के सर पर ही नहीं है, मुसलिम औरतों पर भी उतना ही भारी गंधाता हुआ बोझ है। धर्म में अंतर होने से उनकी स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है। मध्य प्रदेश में मुसलिम समाज में मैला ढोने का काम हेला समुदाय की औरतों के सर पर है। वहाँ तस्लीम बताते हैं : '...यूँ तो इसलाम में छुआछूत नहीं है लेकिन हेला समाज की इन औरतों और उनके बच्चों को न जाने कितने स्तरों पर भेदभाव की ज़लालत से गुज़रना पड़ता है।' तस्लीम की बातों से इत्तिफ़ाक़ रखते हुए आसिफ़ कहते हैं : 'यह मानना ग़लत है कि मुसलमानों में भेदभाव नहीं है, बहुत है। हमारे क़ब्रिस्तान अलग हैं, मदरसों से लेकर मसजिद में हर जगह भेदभाव है' (पृ. 115-16)।

समाज में एक विचार कैसे प्रतिकूल विचार से टकरा कर नया रूप ले लेता है— इस संदर्भ में मैला ढोने वालों क ब्राह्मणीकरण भी कम दिलचस्प नहीं है। देवाल में हिंदुत्ववादियों के प्रभाव से मैला ढोने वालों ने जाति छुपाने के लिए अपना उपनाम बदल लिया है। वे ख़ुद को द्विवेदी, ब्रह्मनिया, राठौर, चौहान और शर्मा लिखते हैं, जबकि हेला लोग शेख, हुसैन लिखने लगे हैं। पिछड़े और दलित मुसलमानों की तरह जिन लोगों ने ईसाई धर्म में पनाह ली— उनके काम और आत्मसम्मान में भी कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता। ये शायद कम लोगों को पता होगा कि कर्नाटक के कोलार में, जो कभी सोना, रेशम और दूध के लिए जाना जाता था, वहाँ मैला साफ़ करने वालों में अधिकांश ईसाई धर्मावलम्बी हैं। देश के बाक़ी हिस्सों में जिस तरह दलितों के मंदिर, मसजिद और गुरुद्वारे अलग होते हैं, वैसे ही यहाँ इस समुदाय के गिरिजाघर अलग हैं। के.जी.एफ़. (कोलार गोल्ड फ़ील्ड) में मैला ढोने वाले ज़्यादातर लोग मूलतः आंध्र प्रदेश के थे लिहाज़ा उनका चर्च अलग से तेलुगु चर्च के नाम से जाना जाता है, लेकिन ये तोटी चर्च भी कहलाता है क्योंकि यह बना ही तोटी लोगों के लिए है। शुरू में तोटी कोई जाति नहीं थी, एक पेशा था लेकिन धीरे-धीरे इसने जाति का रूप ले लिया (पृ. 144)।

> जिस परिष्कृत अनुसंधान की आवश्यकता है वह इस पुस्तक से नदारद है। ... लेखिका ने कुछ अहम मुद्दे उठाये हैं— जैसे, मैला ढोने वालों के बीच चलने वाली ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया कि कैसे हिंदुत्ववादियों के प्रभाव के तहत मैला ढोने वाले अपनी जाति छुपाने के लिए उपनाम बदलने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस चर्चा में ... संस्कृतीकरण सिद्धांत की छाप मिलती है। पर क्या यह समस्या दुनिया की अन्य जगहों के लिए भी सच्चाई है— इस बारे में एक टिपण्णी इस पुस्तक के लिए ज़रूरी हो सकती थी।

गंदगी, ज़लालत और स्वास्थ्य

इस गंदे काम में कितनी ज़लालत है इसका अंदाज़ा लेखिका को हर बार तब महसूस हुआ जब उन्होंने हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में लोगों से बात की। पटना की कुसुमी तीखे तेवर में कहती है : 'हम जानते हैं कि यह ग़ैर-क़ानूनी काम है, पर क़ानूनों से पेट नहीं भरता। टीना ढोए बिना हमारा काम नहीं चलेगा। सरकार कहती है क़र्ज़ा ले लो, पर क़र्ज़ा पाटना भी तो पड़ता है। कैसे पटेगा? हमारा छुआ कोई खाता नहीं तो क्या काम करें? एक बार हम चाय की दुकान किये थे। कौनो पिने न आया। सब यही कहते थे— दिमाग़ फिर गया है टिनावाली का। बड़ी ब्राह्मण होने चली है, चाय का दुकान खोल कर। मेहतर के हाथ की चाय कौन पिएगा। ऐसा भी कलयुग न आया है ई कोई जात ख़राब करे। हिरोइन सोचती है चाय बनाकर जाति छिपा लेगी, तुम्हारे माथे पर लिखा है और उ इस जन्म में मिटने वाला नहीं है। बात सच्ची है ई हमारे माथे पर लिखा है और मर कर ही जाएगा कि हम मूँड पर मैला ढोते हैं, समझी' (पृ. 39-40)!

आम धारणा है कि अपंग या विकलांग पैदा होने वाले बच्चों के पीछे अक्सर आनुवंशिक कारण होता है और ऊपर वाला बिना किसी ऊँच-नीच के किसी के भी घर ऐसी संतानें पैदा कर सकता है। लेकिन मैला ढोने के संदर्भ में अपंगता और विकलांगता का कारण गर्भ के दौरान स्त्रियों के आस-पास के वातावरण से सीधा जुड़ा है। दिल्ली की नंद नगरी में रहने वाली मीना की छह साल की बच्ची मानसिक और शारीरिक रूप से विकलांग है। वह देखने में मुश्किल से छह महीने की लगती है। बातों-बातों में मीना लेखिका से पूछती है : 'दीदी, मैं ये गंदा काम न करती तो बेटी ठीक पैदा होती, है न !' लेखिका के यह कहने पर कि कई माता-पिताओं को ऐसी संतानें पैदा हो जाती हैं, मीना फ़फ़क-फ़फ़क कर रोने लगती है : 'काश, मैं भी ये मान सकती। मेरी डॉक्टर ने तो मुझे सीधे-सीधे बोला था की मेरे गर्भ में इंफ़ेक्शन इस गंदे काम की वजह से ही हुआ। पाँचवें या छठे महीने में डॉक्टर ने मुझे ये काम बंद करने को कहा था; लेकिन मैंने फिर भी काम करना बंद नहीं किया। सोचा अभी काम कर लूँ तो बच्चा होने के बाद कुछ आराम रहेगा, कुछ पैसा रहेगा। यह सोचकर आज भी कलेजा फटता है कि इस लालच के चलते मैंने अपने बच्ची की ज़िंदगी बर्बाद कर दी। उस समय में घरों में कमाने वाली लैट्रीन तो साफ़ कर ही रही थी, सैप्टिक टैंक की सफ़ाई के लिए भी चली जाती थी। ऐसी ही सफ़ाई के दौरान मुझे इंफ़ेक्शन पकड़ गया और मैं बीमार पड़ गयी' (पृ. 28)।

यह जानने के लिए कि क्या देश के अलग-अलग हिस्सों में इन महिलाओं को एक ही तरह की स्वास्थ्य-समस्याओं से जूझना पड़ता है, लेखिका ने जब गुजरात में स्त्रियों के एक समूह से यह सवाल पूछा तो इसका क़रारा जवाब रानपुर गाँव की जीतू बेन ने दिया : 'माथे मैलु उठा कर देखो, तब बीमारी का पता चलेगा। जो मैला ढोएगा वह ठीक रहेगा क्या। तुम्हारे लिए और बाक़ी समाज के लिए खोजने की बात यह भी है कि इतना गंदा काम करने के बाद भी हम ज़िंदा कैसे हैं? बच्चा कैसे जनते हैं, क्यों जनते हैं? कुछ समय पहले एक विलायती डॉक्टर ने यहाँ आकर बहुत आँसू बहाए और कहा कि यहाँ सबकी नसबंदी करा दो' (पृ. 89-90)।

भाषा सिंह की इस पुस्तक ने हमारे समाज के शुतुरमुर्ग-प्रवृत्ति पर गहरा आघात किया है। लेकिन, इस रचना की कुछ सीमाएँ भी हैं जिन्हें रेखांकित करना आवश्यक है। यह पुस्तक भारतीय जाति-प्रथा के सबसे निचले पायदान पर खड़े मैला उठाने वाले समुदाय और उनकी ज़िंदगी पर एक सरसरी निगाह अवश्य डालती है; साथ ही यह पुस्तक इन समुदायों के ऊपर समाज-वैज्ञानिक शोध का एक प्रस्थान-बिंदु भी बन सकती है— लेकिन इस विषय पर जरूरी विमर्श तैयार करने के लिए जिस परिष्कृत अनुसंधान की आवश्यकता है वह इस पुस्तक से नदारद है। सम्भवत: ऐसा इसलिए भी है कि लेखिका पेशे से एक पत्रकार है और यह पुस्तक अलग-अलग राज्यों में किये गये अध्ययनों और उनसे निकले लेखों का संकलन-भर है जो *आउटलुक* पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। लेखिका

ने कुछ अहम मुद्दे उठाये हैं—जैसे, मैला ढोने वालों के बीच चलने वाली ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया कि कैसे हिंदुत्ववादियों के प्रभाव के तहत मैला ढोने वाले अपनी जाति छुपाने के लिए उपनाम बदलने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस चर्चा में एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रतिपादित और विवादित संस्कृतीकरण सिद्धांत की छाप मिलती है। पर क्या यह समस्या दुनिया की अन्य जगहों के लिए भी सच्चाई है—इस बारे में एक टिपण्णी इस पुस्तक के लिए ज़रूरी हो सकती थी। उदाहरण के तौर पर दक्षिण एशिया के अलावा जापान जैसे देश में भी छुआछूत की प्रथा की पारम्परिक पैठ है। इसके अलावा एक और महत्त्वपूर्ण चर्चा इस बात पर भी हो सकती थी कि ख़ुद दलित समाज के भीतर मैला उठाने वालों के प्रति कैसी मानसिकता और रवैया है। यह तथ्य डॉ. आम्बेडकर द्वारा सुझाई गयी सीढ़ीनुमा असमानता (ग्रेडेड-इनइक्वलिटी) की परिघटना समझने के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।